www.aryaprog.org www.shantrantibooks.org

मानवता के महान् उपासक—महापुरुष ईसा

मानव-समाज की प्रगति का इतिहास, उत्थान और पतन के युगों की एक दीर्घ श्रृंखला की तरह है। ऐसा उदाहरण एक भी नहीं मिल सकता, जब कोई जाति या देश निरंतर उन्नति ही करता रहा हो, जिसकी अवस्था सदा वैभव-संपन्न और सुखी ही रही हो। ऐसा होना प्रकृति के, काल-चक्र के नियमों के प्रतिकूल है। जब तक कोई जाति कठिनाइयों का, विषम परिस्थितियों का सामना नहीं करती—तब तक उसमें दृढ़ता, साहस, धैर्य, सहयोग, अध्यवसाय आदि ऐसे गुणों का प्रादुर्भाव नहीं होता, जिनके द्वारा संसार में वास्तविक अभ्युदय हो सकना और उसकी रक्षा कर सकना संभव होता है। प्रायः ऐसा भी देखने में आता है कि जब कोई जाति परिश्रम, अध्यवसाय और अनुकूल अवसर पा जाने से धन, सत्ता, वैभव की स्वामिनी हो जाती है तो कुछ समय बाद उसमें मद, अहंकार और पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष का भाव उत्पन्न हो जाता है और तब धीरे-धीरे वह जाति पतन की ओर अग्रसर होने लग जाती है।

हमारे भारतवर्ष के इतिहास में इस प्रकार उत्थान और पतन के न मालूम कितने युग आ चुके हैं ? कभी चक्रवर्ती सम्राटों का आविर्भाव होकर यह संसार की संपत्ति, सभ्यता, सत्ता का केंद्र बन गया और कभी विदेशी, विजातीय लोगों के आक्रमणों से पददलित होकर अन्याय, अपहरण और दीनता का शिकार हुआ। यह समझना कि भारतवर्ष पर गत एक हजार वर्षों में केवल मुसलमानों और ईसाइयों के ही आक्रमण हुए हैं, यह सही नहीं है। हम पौराणिक-साहित्य में जो दैत्यों, राक्षसों और असुरों के संग्रामों की कथाएँ पढ़ते हैं, उनमें से कितने ही ऐसे विदेशी आक्रमणकारी ही थे।

पैलेस्टाइन की यहूदी जाति, जिसमें ईसामसीह का जन्म हुआ था, एक ऐसी ही जाति है, जिसका इतिहास सुख और दुःख, उन्नति और अवनति की घटनाओं से भरा हुआ है। इसमें प्राचीन समय से अनेक बड़े-बड़े नेता और शासक ऐसे होते आए हैं, जिन्होंने इस जाति को संगठित करके खूब आगे बढ़ाया और फिर अन्य आक्रमणकारियों ने इसकी खूब दुर्गति भी की। महात्मा ईसा के जन्म से पहले इसका निवास स्थान पश्चिमी एशिया के पैलेस्टाइन देश में था। वे वहाँ सामान्य रूप से स्वतंत्र और सुखी जीवन व्यतीत कर रहे थे। पर अकस्मात् रोम के एक सेनापति ने उस पर आक्रमण किया और पैलेस्टाइन को विजय करके यहूदियों के प्रधान धर्म-मंदिर को—जो यरूशलम में था, नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इससे वहाँ की जनता में बड़ा रोष और असंतोष फैला, पर रोम की विशाल शक्ति के सामने वे कुछ कर सकने में असमर्थ थे। पैलेस्टाइन के शासक रोम के अधीन हो गए और उनको कर (टैक्स) देने लगे। पर जनता ने रोम वालों का विरोध करना न छोड़ा और लोग षड्यंत्र, बलवा, सविनय कानून-भंग के रूप में अपनी खोई हुई स्वतंत्रता को प्राप्त करने का प्रयत्न करते ही रहे। इस प्रकार समस्त देश में हलचल और उथल-पुथल मच गई। सामाजिक एकता नष्ट हो गई और लोग विभिन्न दलों में बँटकर आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे। उस समय की परिस्थिति पर कुछ प्रकाश ईसा की माता 'मरियम' के उन उद्‌गारों से पड़ता है, जो उसने गर्भ का पता लगने पर ईश्वर की स्तुति करते हुए प्रकट किये थे—

"उस सर्वशक्तिमान् ने अहंकारियों का दर्प भंग कर दिया। उसने शक्ति-संपन्नों को अपने आसन से गिरा दिया और दीन-दुःखियों को महत्त्व प्रदान किया। दरिद्रों को उसने आशीर्वाद दिया और धनवानों को खाली हाथ लौटा दिया।"

उस समय भीतर और बाहर सब तरफ से पैलेस्टाइन में अशांति की ज्वाला प्रज्वलित थी और लोगों में राष्ट्रीय तथा जातीय समस्याओं के विषय में बड़ा विवाद चल रहा था। ऐसे समय जबकि विदेशी और देशी शासक मिलकर जनता का शोषण और अत्याचार

कर रहे हों, राजनीतिक क्षेत्र में हलचल मची रहती हो, यहूदी विचारकों का ध्यान स्वभावतः अपने धर्म-ग्रंथों की भविष्यवाणियों की तरफ जाने लगा और वे सोचने लगे कि अब 'ईश्वरीय राज्य' का समय पास आ चुका है और धार्मिक लोगों के उद्धार के लिए भगवान् की तरफ से कोई महापुरुष (मसीहा) प्रकट होने ही वाला है। उनकी स्थिति अनेक अंशों में भारतीय जनता से मिलती-जुलती सी थी, जो किसी अन्यायी शासन में कष्ट पाने पर भजन-कीर्त्तन के रूप में भगवान् से पुकार करने लगती है और आशा करती है कि शीघ्र ही भगवान् की शक्ति 'अवतार' लेकर उनके दुःखों को दूर करेगी।

ऐसे संकट-काल में ईसा का आविर्भाव हुआ। उसने उत्तरी पैलेस्टाइन के 'नजरेथ' नामक स्थान में एक सामान्य स्थिति के बढ़ई के घर में जन्म लिया था। उसके माता-पिता धार्मिक विचारों के थे और उसे भी आरंभिक अवस्था में एक यहूदी धर्म की पाठशाला में ही भरती कराया गया था। वह नियमित रूप से यहूदियों के धर्म-मंदिर में प्रवचन सुनने जाता और प्रतिवर्ष 'पासोवर' के पर्व के अवसर पर यरुशलम की यात्रा करता था। छोटी आयु में ही उसमें विशुद्धता, सत्यता और तेजस्विता के चिह्न देखने में आते थे। उसे बाइबिल के 'इसाहिया' के लेख बहुत पसंद थे और उनमें से वह प्रायः निम्नलिखित वाक्य पढ़ा करता था—

"मेरे भीतर ईश्वरीय ज्योति प्रविष्ट हुई है। उसने मुझे गरीब लोगों को उपदेश देने के लिए मसीहा बनाया है। उसने मुझे भग्न-हृदयों को सुखी करने, कैदियों को बंधन-मुक्त करने, अंधों को दृष्टि-शक्ति देने और घायलों को सशक्त बनाने के लिए भेजा है।"

शीघ्र ही ईसा के व्यक्तित्व ने अनेक व्यक्तियों को आकर्षित कर लिया। उसके विवाद करने और विषय प्रतिपादन करने का ढंग ऐसा जोरदार था कि लोग सहज ही उसके कथन की सच्चाई को स्वीकार कर लेते थे। जो लोग रोमन-साम्राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र रचते रहते थे, उन्होंने उसे एक 'भावी नेता' अनुभव करके अपने दल में मिलाना चाहा। आरंभ में ईसा का झुकाव उनकी तरफ कुछ हुआ भी, पर कुछ ही समय बाद उसका भाव पलट गया और वह कहने

लगा—"शक्ति से नहीं, बल से नहीं, वरन् आध्यात्मिक मार्ग द्वारा ही सच्ची सफलता प्राप्त हो सकती है।" भौतिक शक्ति कुछ समय के लिए प्रधानता प्राप्त कर भी ले, पर वह ज्यादा दिन तक टिक नहीं सकती, क्योंकि उसका आधार प्रायः स्वार्थपरता पर होता है।

उसने विचार किया कि यदि रोमनों को हराकर उनके वैभव का स्वामी पैलेस्टाइन हो जाए तो इससे क्या लाभ होगा ? क्या रोमनों के स्थान पर 'सैड्यूसीज' (यहूदी पूँजीपति) और 'फरीसीज' (मध्यम वर्ग वाले) का शासन स्थापित हो जाने और पुरोहितों के बनाये कानून (धार्मिक आदेश) जारी होने से साधारण जनता का विशेष कल्याण हो सकता है ? मनुष्य का कल्याण तो 'ईश्वरीय-राज्य' की स्थापना से ही संभव है। 'ईश्वरीय-राज्य' क्या है ? 'ईश्वरीय-राज्य' वह है, जिसमें अन्यायपूर्ण सामाजिक भेदभाव न हो, गरीबों के कष्ट मिटाए जाएँ, धन-संपत्ति को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाए, सब प्रकार के दमनकारी और पाशविक शक्ति पर आधार रखने वाले शासन का अंत हो जाए और लोग परस्पर प्रेम-भाव रखने लगें।

इस प्रकार के नए विचारों को सुनकर राजनीतिक षड्यंत्रकारी तो अप्रसन्न होकर ईसा से पृथक् हो गए, पर साधारण जनता उसकी तरफ आकर्षित होने लगी। कितने ही लोग उसके अनुयायी बन गए। जब सर्वसाधारण का एक बड़ा समुदाय उसका उपदेश सुनने को एकत्रित हुआ तो उसने एक पहाड़ी टीले पर चढ़कर कहना आरंभ किया—

"धन्य हैं वे लोग जो गरीब हैं, जो दुःख सहते हैं और पश्चात्ताप करते हैं। जो नम्र, दयालु और शांति के प्रचारक हैं तथा जो न्याय की खातिर दंड सहते हैं। धन्य हैं वे, जो बुराई के बदले भलाई करते हैं। धन्य हैं वे, जिनके यहाँ अदालतें नहीं हैं, जो दंड-विधान से अनभिज्ञ हैं, अपने शत्रुओं से भी प्रेम करते हैं और अपने दंड देने वालों के कल्याण के लिए भी प्रार्थना करते हैं, क्योंकि समस्त मनुष्य एक ही पिता की संतान हैं।"

महात्मा ईसा की यह दिव्य वाणी आज तक संसार में गूँज रही है और यद्यपि अभी तक सब मनुष्य उसका पालन नहीं करने लगे हैं

तो भी करोड़ों व्यक्ति उससे मानसिक और आत्मिक शांति प्राप्त कर चुके हैं और संसार के उपकार के लिए प्रयत्नशील हो चुके हैं। ईसा का व्यक्तित्व और उपदेश कितना कल्याणकारी और ईश्वरीय आदेशों के अनुकूल था, इसकी विवेचना करते हुए आधुनिक युग के महामानव और हिंदू-धर्म के सुदृढ़ स्तंभ स्वामी विवेकानंद ने लिखा है—

"महापुरुष ईसा के उपदेश और कर्म-वीरता की सब गाथाएँ लिपिबद्ध हो जाने पर सारा विश्व उनसे व्याप्त हो जायेगा। उनको धर्म-प्रचार के लिए केवल तीन वर्ष का ही समय मिला, पर मानो उसी में एक संपूर्ण युग की घटनाएँ और इतिहास सूक्ष्म रूप से समाया हुआ है। उसको स्थूल रूप धारण करते हुए उन्नीस शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं और न जाने कितनी व्यतीत होंगी ? हम साधारण लोग तो क्षुद्र-शक्ति वाले होते हैं। हमारी शक्ति के पूर्ण प्रसारित होकर व्यय हो जाने में थोड़ा ही समय—कुछ वर्ष पर्याप्त होते हैं। उसके बाद हम पुनः उस अनंत शक्ति-स्रोत में लीन हो जाते हैं। पर इस विशाल शक्ति-पुंज को देखिए। शताब्दियाँ और सहस्राब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी, उसकी महान् शक्ति पूर्ण रूप से प्रकट नहीं हो पाई है, उसका पूर्ण प्रसार व विकास नहीं हो पाया है। जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है, उसमें नूतन शक्ति का संचार होता जा रहा है—वह प्रबल से प्रबलतर होती जा रही है।

संसार के मनुष्यों की प्रवृत्ति सामान्यतः भौतिकता की ओर होती है। मनुष्य सदा से सुख-सामग्री की खोज करता आया है और यह सत्य है कि जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनों के बिना किसी का काम नहीं चल सकता। क्या भौतिकवादी और क्या अध्यात्मवादी, 'रोटी' की आवश्यकता सबको होती है ; पर दोनों में इतना अंतर होता है कि केवल भौतिक लाभ पर ही दृष्टि रखने वाला अपने लिए सुख-सामग्री प्राप्त करने में भले-बुरे का ध्यान नहीं रखता। वह दूसरे के मुख का ग्रास भी छीन लेता है और असहाय स्त्री, बच्चों का अधिकार भी हड़प कर जाता है। ऐसी प्रवृत्ति पाशविकता का निम्न स्वरूप है और ऐसे व्यक्ति को मनुष्य की आकृति और वेशभूषा में

देखने पर भी हम उसे मानवताहीन ही मानेंगे। हमारे शास्त्रों में ऐसे लोगों को तामसी प्रवृति का कहा गया है। विदेशी धर्म वाले उन्हें 'शैतान' का अनुयायी मानते हैं।

संसार में समय-समय पर प्रकट होने वाली महान् आत्माओं का यही कार्य होता है कि वे संसार के मनुष्यों की भौतिकता की निम्न प्रवृत्तियों को त्यागकर आध्यात्मिकता की प्रवृत्तियों को ग्रहण करने का उपदेश दें, क्योंकि इसके बिना समाज की उन्नति नहीं हो सकती और मनुष्य एक दृष्टि से पशुओं की अवस्था में ही पड़ा रहता है। यह ख्याल करना गलत है कि बहुत-सा सोना-चाँदी इकट्ठा कर लेने से या खाने-पीने की बढ़िया वस्तुएँ प्राप्त कर लेने से कोई व्यक्ति ऊँचा अथवा सभ्य और संस्कारयुक्त बन सकता है। आप प्राचीन और नवीन युद्धप्रिय राजाओं, सरदारों और दुर्दमनीय लुटेरों, डाकुओं, हत्यारों के ऐसे चित्र देख सकते हैं, जिनकी भाव-भंगिमा देखते ही भय लगता है, यद्यपि उनके पास धन-संपत्ति की कमी नहीं होती। आप उनको राक्षस या दानव के सिवाय और कुछ नहीं कह सकते। दैवी प्रेरणा से संपन्न महान् आत्माओं का कार्य ऐसे दानवों को मानव रूप में परिवर्तित करना होता है। महात्मा ईसा ने इसी उद्देश्य से अपनी शरीर और आत्मा की आहुति दे दी। इसी से आज दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी हम उनका बड़े सम्मान के साथ स्मरण करते हैं और करोड़ों व्यक्ति उनके उपदेशों से प्रेरणा ग्रहण करके अपने जीवन को उच्च मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करते हैं। इस तथ्य की यथार्थता का समर्थन स्वामी विवेकानंद के इस कथन से होता है—

"यह सच है कि मैं और तुम—हम में से निर्धन से भी निर्धन और हीन से भी हीन व्यक्ति में भी परमेश्वर विद्यमान् है, उनका प्रतिबिंब मौजूद है। प्रकाश की गति सर्वत्र है, उसका स्पंदन सर्वव्यापी है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव उसका दर्शन-दीपक में भी होता है। जगत् का सर्वव्यापी ईश भी तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता, जब तक ये शक्तिशाली दीपक—ये ईशदूत, ये उसके संदेशवाहक (पैगंबर) और अवतार—ये नर-नारायण, उसे अपने में प्रतिबिंबित नहीं करते।"

ईसा मसीह एशिया निवासी थे—

आज के युग में एक बड़ा अद्‌भुत दृश्य यह देखने में आ रहा है कि एक तरफ तो योरोप, अमेरिका तथा अफ्रीका में भी बसने वाले समस्त गोरे लोग ईसा मसीह के अनुयायी हैं। उनको ईश्वर मानकर प्रार्थना, उपासना करते हैं और दूसरी तरफ वे एशिया निवासियों को 'अश्वेत' अथवा काला कहकर हीन कोटि का मानते हैं। सभी गोरी जाति वालों के देशों में एशिया निवासियों के प्रवेश पर कुछ न कुछ प्रतिबंध लगे हैं और अफ्रीका निवासी गोरे तो उनको अपमानपूर्वक अपने यहाँ से निकालते रहते हैं। इस दृश्य को देखकर एक बार किसी समाचार पत्र ने व्यंग्य करते हुए लिखा था कि—"आज यदि ईसामसीह प्रकट होकर अफ्रीका में जाएँ, तो एशियावासी होने के कारण गोरे लोग उनको भी वहाँ न आने देंगे और निकाल बाहर करेंगे।" यद्यपि वे उनको चित्रों में नीली आँखें और भूरे बाल चित्रित करके उनको अपनी जाति का प्रकट करने की चेष्टा करते हैं, पर बाइबिल में स्पष्ट कहा गया है कि, वे पैलेस्टाइन के निवासी थे, जो सदा से एशिया का ही एक देश है। इसके अतिरिक्त बाइबिल में ही उस युग की घटनाओं का जो वातावरण दिखाया है, जैसे—सूर्य की तीव्र धूप, गर्मी की अधिकता, प्यास से व्याकुल होते नर-नारी, कुओं से पानी खींचती हुई स्त्रियाँ आदि ये सब दृश्य भी एशिया मात्र में ही दिखाई पड़ते हैं।

गोरे लोगों ने कभी इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि ईसा ने उनको प्रेम-धर्म का जो उपदेश दिया है और मनुष्य-मात्र को परमात्मा का पुत्र बतलाकर परस्पर परोपकार और उदारता के व्यवहार की जो शिक्षाएँ दी हैं, वे सब एशियाई धर्मों से ही ग्रहण की गई हैं। योरोपीय दर्शन और विचारधारा का मूल उद्‌गम यूनान (ग्रीस) रहा है। वहाँ के निवासी अपनी सभ्यता को सर्वोच्च मानते रहे हैं। अन्य देशवासी उनकी निगाह में अर्द्ध-सभ्य अथवा बर्बर थे। उनके मतानुसार यूनानी जो कुछ करते थे, वही श्रेष्ठ कर्तव्य था। संसार में और जो कुछ है, वह गलत है, उसे नष्ट कर देना चाहिए। इसलिए मानवता के प्रति उनकी सहानुभूति एकदम सीमाबद्ध है। उनकी

सभ्यता कला-कौशलमय है। यूनानी मस्तिष्क पूर्णतया इहलोक का चिंतन करता है। उसे पारलौकिक भावनाओं से प्रेम नहीं है। उसका काव्य भी व्यावहारिक-जगत् से प्रेरणा पाता है। उसके देवता भी मानव-प्रकृति वाले, मानवों की तरह साधारण सुख-दुःख का अनुभव करने वाले हैं। वे सौंदर्य को प्यार करते हैं, पर उनकी सौंदर्योपासना प्राकृतिक शोभा, मनुष्य के बाह्य अवयवों की सुडौलता आदि तक सीमित है। यही यूनान परवर्ती योरोप का आचार्य था और इसलिए आज भी योरोप में उठने वाले नित नए दार्शनिक सिद्धांत व विचार—आज के योरोप की वाणी यूनान के अतीत की एक प्रतिध्वनि मात्र है।

पर एशिया की स्थिति इससे बहुत भिन्न है। यहाँ के भूखंड, पर्वत, नदी, जंगल, रेगिस्तान आदि विविधता के भंडार हैं। इस विविधता के दर्शन करते और उसमें एकता का दर्शन करते हुए यहाँ के निवासी आंतरिक भावापन्न हो गए हैं। उनमें भी सौंदर्योपासना, प्रकृति से प्रेम, अपनी सभ्यता की श्रेष्ठता का भाव आदि बातें पाई जाती हैं, पर वे इनका संबंध भौतिकता तथा राजनीति से न करके अध्यात्म और धर्म से कर देते हैं। इसके प्रभाव से वे स्थूल जगत् की अपेक्षा सूक्ष्म जगत् की चिंता अधिक करते हैं—इहलोक की अपेक्षा परलोक का ध्यान ज्यादा रखते हैं। यद्यपि वर्तमान सभ्यता के कितने ही उपासक इस प्रवृत्ति को हानिकारक बतलाते हैं और आक्षेप करते हैं कि इस दुनिया की अपेक्षा परलोक और स्वर्ग की चिंता करने से ही भारतवासी और अन्य एशियाई देशों के निवासी भी उन्नति की दौड़ में पिछड़ गए और उनको अल्पसंख्यक योरोपियनों ने अपने अधीन कर लिया।

यह आक्षेप कुछ अंशों में सत्य हो सकता है। पारलौकिक विचारों में विकृति आ जाने पर मनुष्य में भाग्यवाद, उद्योग की कमी, निष्क्रियता का दोष आदि किसी मात्रा में उत्पन्न हो सकते हैं, पर भौतिकवाद के दोष इससे कहीं अधिक घातक होते हैं। उसमें जब विकृति आती है तो मनुष्य स्वार्थ में डूबकर नर-पशु बन जाता है और उसकी सद्प्रवृत्तियाँ, परोपकर, उदारता आदि के गुण नष्ट

होकर वह दूसरों को मारने-खाने में ही बड़प्पन अनुभव करता है। पहले तो वह गैर लोगों को दूरवर्ती देशों की अपनी दुर्दमनीय लालसा का शिकार बनाता है, पर जब संसार में अधिक पैर फैलाने की गुंजायश नहीं रहती तो आपस में मरने-कटने लगता है।

यही दृश्य आज योरोप—अमेरिका के विभिन्न देशों में दिखाई पड़ रहा है और वे 'महाभारत' की तरह पारस्परिक संघर्ष द्वारा ही अपना अंत कर लेने की तैयारी में लगे हुए हैं। भौतिकता, आध्यात्मिकता की अपेक्षा निश्चय ही अधिक परिवर्तनशील और क्षणिक होती है। इसलिए जहाँ भौतिकवादी अपने उद्योग में असफल होकर प्रायः संसार से विदा ही हो जाते हैं, वहाँ आध्यात्मिक भावापन्न व्यक्ति गिरकर फिर उठते हैं और अपने दूरवर्ती लक्ष्य की ओर बढ़ने लगे हैं। महात्मा ईसा भी इन तथ्यों और सत्य सिद्धांतों को खूब जानते थे और अपनी जाति में इन्हीं के प्रचार के निमित्त उन्होंने आत्म-बलिदान कर दिया।

ईसा की अध्यात्म-साधना

यद्यपि ईसा की रुचि बाल्यावस्था से ही धर्म और अध्यात्म की तरफ थी, तो भी जब तक नियमित रूप से साधना न की जाए तब तक आध्यात्मिक शक्ति का समुचित विकास नहीं हो सकता। 'बाइबिल' में ईसा की इस साधना का हाल बहुत संक्षेप में ही मिलता है। उसमें कहा गया है कि जब ईसा बारह वर्ष के थे तो वह अपने माता-पिता के साथ, वर्ष का सबसे बड़ा धार्मिक पर्व मनाने के लिए यरूशलेम नगर में गए और वहाँ उन्होंने कुछ विद्वानों से धार्मिक प्रश्नों पर बातचीत भी की थी। इस घटना का वर्णन करते हुए एक ईसाई लेखक की पुस्तक 'देहधारी ईश्वर' में लिखा है—

"पर्व के समय पवित्र नगर यरूशलेम यात्रियों से भर गया और जब पर्व समाप्त हुआ तो यात्री अपने-अपने गाँव तथा शहरों की ओर जाने के लिए लौटे। मार्ग में बहुत भीड़ थी और उसी में ईसा के माता-पिता युसुफ और मरियम भी थे। उन्होंने यह सोचकर कि यीशु अन्य बालकों के साथ होंगे, यह जानने की चेष्टा नहीं की कि वे वास्तव में भीड़ में हैं भी या नहीं। पर जब रात्रि का समय आ पहुँचा

तो वे उनको इधर-उधर ढूँढ़ने लगे। जब कहीं उनको न पाया तो वे घबरा उठे और यीशु को ढूँढ़ते हुए यरूशलेम की तरफ लौटे। वे एक-दूसरे को दोष दे रहे थे। यह सब अपनी ही लापरवाही के कारण हुआ था, यह सोचकर उनके हृदय भय तथा वेदना से काँप उठते थे।

"यरूशलेम पहुँचकर उन्होंने गली-कूचों में सब जगह खोज की, पर कहीं उन्हें यीशु नहीं मिले। अंत में कुछ धुँधली-सी आशा रखते हुए वे मंदिर के समीप आ पहुँचे। मंदिर में प्रवेश करते ही उन्होंने देखा कि बड़े-बड़े विद्वानों के साथ उनका पुत्र भी बातें कर रहा है। उन्होंने देखा कि बालक यीशु उन विद्वानों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर ही नहीं दे रहे, किंतु स्वयं उन विद्वानों से प्रश्न पूछ रहे हैं और ये समस्त प्रश्न पवित्र-शास्त्र तथा धार्मिक व्यवस्था के संबंध में हैं। यह दृश्य देखकर माता मरियम का हृदय उमड़ने लगा और उससे रहा नहीं गया। वह आगे जाकर बालक यीशु से पूछने लगीं—"बेटा, तुमने हमारे साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया ? देख, तेरे पिताजी और मैं तुम्हें ढूँढ़ते हुए यहाँ तक आए हैं।" यीशु ने अपनी माता की ओर शांत, निश्चल भाव से देखा और कहा—"आप मुझे क्यों ढूँढ़ रहे थे ? क्या आपको यह मालूम नहीं था कि मुझे अपने 'पिता' के भवन में ही होना है।"

"परंतु उन्होंने देखा कि उनकी बात का रहस्य मरियम की समझ में नहीं आया। वह यही समझ रही हैं कि उनका पिता युसुफ ही है और यह भूल गई हैं कि उनका वास्तविक पिता परमेश्वर है। इस अवसर पर उन्होंने बात को बढ़ाना ठीक न समझा और एक आज्ञाकारी बालक के समान अपने गाँव नजरेथ को लौट आए।"

इस वर्णन से यह प्रकट होता है कि अनेक महापुरुषों की तरह ईसा का झुकाव आरंभ से ही धर्म और आध्यात्मिक विषयों की तरफ था और वे उसकी जिज्ञासा करते रहते थे, पर आगे चलकर उन्होंने किस प्रकार ज्ञान को विकसित किया, जिससे तीस वर्ष की आयु में वे एक महान् धर्मोपदेशक के रूप में अपनी जाति वालों के सम्मुख प्रकट हुए और कुछ ही समय में सर्वत्र एक धार्मिक विप्लव उत्पन्न

कर दिया, इसका कोई वर्णन 'बाइबिल' में नहीं मिलता। उसमें एकाध जगह केवल इतना ही लिख दिया है कि "आगामी अठारह वर्ष तक वे सामान्य जीवन बिताते रहे और आस-पास की पहाड़ियों में एकांत में बैठकर भगवान् की उपासना करते रहे।"

क्या ईसा भारतवर्ष आए थे ?

पर ईसा जैसे तेजपुंज व्यक्ति का इतने समय तक छिपा हुआ पड़ा रहना संभव न था। वे ऐसे सत्यान्वेषी थे कि जहाँ रहते वहीं सब लोगों का ध्यान आकर्षित कर लेते। उनमें उसी आयु में परमात्मा के स्वरूप और अन्य आध्यात्मिक विषयों को पूर्ण रूप से जानने की प्रवृत्ति जाग्रत् हो गई थी और उसके लिए वे इस विषय के ज्ञाताओं से वार्तालाप करते रहते थे। इस संबंध में आर्थर लिली नामक अंग्रेज विद्वान् ने अपनी "इंडिया इन प्रिमिटिव क्रिश्चियनिटी" (प्राचीन ईसाई-धर्म में भारत का स्थान) नामक पुस्तक में लिखा है—"ईसा 'एसेन' संप्रदाय में सम्मिलित हो गए थे। ये 'एसेन' भारतीय योगियों की तरह परमात्मा का सान्निध्य और आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने की साधना किया करते थे और इसके लिए एकांत स्थानों में बैठकर ध्यान-मग्न हो जाते थे।" (पृष्ठ २००)

एक अन्य प्रसिद्ध लेखक आर्थर रेमन ने भी लिखा है—"भाषाशास्त्र की विवेचना करने वालों ने 'एसेन' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में कोई ठीक मत प्रकट नहीं किया है। जिस प्रकार 'एसेन' संप्रदाय की उत्पत्ति का कोई पता नहीं लगता, उसी प्रकार 'एसेन' शब्द का मूल स्वरूप भी ज्ञात नहीं हो सका। पर ये 'एसेन' गुरु लोगों (भारत के आध्यात्मिक ब्राह्मण आत्म-ज्ञानी) से मिलते हुए होते थे।" एक भारतीय विद्वान् ने खोज करके बतलाया है कि—'एसेन' शब्द संस्कृत के 'ईशान' से निकलता है, जो भगवान् शिव का एक नाम है। शिवजी के उपासक को 'ईशानी' कहा जाता है और उसी से 'एसेन' की उत्पत्ति हुई है।

ईसा की आध्यात्मिक साधनों के विषय पर अधिक प्रकाश डॉ० नोटोविच की प्रसिद्ध पुस्तक "अननोन लाइफ ऑफ जीसस" (ईसा मसीह का अज्ञात जीवन चरित्र) से पड़ता है, जिसके प्रकाशित होते

ही अमेरिका के ईसाइयों में हलचल मच गई थी और अंत में जिसे अमेरिकन सरकार ने जब्त कर लिया था। यह पुस्तक डॉ० नोटोविच को तिब्बत के एक मठ में प्राप्त हुई थी और उसी का उन्होंने अंग्रेजी अनुवाद करके अमेरिका में प्रकाशित कराया था। यद्यपि इस पुस्तक का विषय बहुत विवादास्पद है, क्योंकि संसार भर में प्रचलित और शक्तिशाली ईसाई मजहब के नेता इस बात को कैसे मान सकते हैं कि उनके आराध्य ईसा मसीह 'भारतीय गुरुओं' के शिष्य थे। फिर भी तिब्बत में इस पुस्तक का होना सत्य ही है और 'श्रीराम कृष्ण वेदांत सोसाइटी' के सदस्य तथा स्वामी विवेकानंद जी के सहकारी स्वामी अभेदानंद जी ने स्वयं इनको तिब्बत के मठ में देखा है। स्वामी अभेदानंद तथा तिब्बती लामाओं (धर्म गुरुओं) की सम्मति में यह पुस्तक ईसा को सूली दिये जाने के ३-४ वर्ष बाद ही लिखी गई थी।

भारतीय योगियों से संपर्क

उपरोक्त पुस्तक की बातें कहाँ तक सच हैं, यह बात तो हम नहीं कह सकते, पर यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि बौद्ध धर्म का उदय होने पर महाराज अशोक ने समस्त एशिया में बौद्ध-प्रचारक भेजकर उसका संदेश प्रसारित कराया था। उस समय तक ईसाई और मुसलमान धर्मों की उत्पत्ति नहीं हुई थी तथा बौद्ध धर्मोपदेशक अफगानिस्तान, ईरान, अरब होते हुए एशिया की अंतिम पश्चिमी सीमा तक पहुँच गए थे, जहाँ कि पैलेस्टाइन का देश अवस्थित है। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर, वहाँ के कुछ साधक भी भारतवर्ष आने लगे थे और बौद्ध तथा ब्राह्मण गुरुओं से आध्यात्मिक साधना की जानकारी प्राप्त करने लगे थे। संभवतः 'एसेन' संप्रदाय ऐसे ही साधकों ने स्थापित किया था, जो ईसा के समय में कुछ अप्रकट रूप से अपना काम कर रहा था, क्योंकि यहूदी जाति अपने धार्मिक सिद्धांतों में सदा से कट्टर होती आई है और वह अपने मज़हब पर किसी बाहरी धर्म का प्रभाव पड़ना सहन नहीं कर सकती।

ईसा मसीह भी अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा की पूर्ति के लिए इन्हीं 'एसेन' लोगों से परिचित हो गए थे और उनकी साधना में भाग

लेने लगे थे। यह स्वयं उपरोक्त अंग्रेज लेखक ने कहा—"वे यहूदी-समाज की कट्टरता के कारण ऐसा अप्रकट रूप से ही करते थे। इसलिए यह असंभव नहीं कि अपनी इस जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिए उन्होंने विदेशों की यात्रा की हो और उसी प्रयत्न में वे भारतीय योगियों के संपर्क में आए हों।" कुछ भी हो डॉ० नोटोविच की पुस्तक का सारांश अत्यंत संक्षेप में हम नीचे दे रहे हैं, जिससे पाठक उसकी वास्तविकता के संबंध में स्वयं ही कुछ अनुमान लगा सकेंगे—

"ईसा जब तेरह वर्ष के हो गए, तो उनके ज्ञान और विद्या से प्रभावित होकर उस स्थान के कितने ही धनवान् व्यक्ति उनके साथ अपनी कन्याओं का विवाह करने के अभिलाषी हो गए। पर ईसा का ध्यान विवाह की तरफ बिल्कुल न था। इसलिए जब विवाह की चर्चा ने जोर पकड़ा तो वे अपने पिता के घर से भाग खड़े हुए। उनकी इच्छा हुई कि वे उस समस्त आत्म-ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करें, जिसे प्राचीन 'बुद्ध' (ज्ञानी) प्राप्त कर चुके हैं। वे चौदह वर्ष की आयु में सौदागरों के एक दल के साथ सिंध में आ पहुँचे। वहाँ के जैन धर्मानुयायी उनकी सौम्य आकृति से बड़े आकर्षित हुए और उनसे अपने यहाँ रहने की प्रार्थना की। पर ईसा ने इसे स्वीकार न किया और आगे बढ़ते हुए जगन्नाथ पुरी तक पहुँच गए। वहाँ उन्होंने कई वर्ष तक ब्राह्मण गुरुओं से वेद और शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। उसके पश्चात् उन्होंने राजगृह, बनारस आदि पवित्र स्थानों की यात्रा करने में ६ वर्ष व्यतीत किए और कपिलवस्तु तक पहुँच गए। बौद्ध साधुओं के साथ उन्होंने बौद्ध-शास्त्रों का अध्ययन भी किया। उसके पश्चात् वे नेपाल और हिमालय होते हुए ईरान पहुँच गए। वहाँ से अपने देश में वापस आए और अपने जाति-भाइयों में उस आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार करने लगे, जो उन्होंने इतने वर्ष के अध्ययन और स्वानुभव से प्राप्त किया था।"

ईसा की भारत-यात्रा और यहाँ रहकर योग की शिक्षा प्राप्त करने के संबंध में और भी कितनी ही बातें कही जाती हैं। कुछ वर्ष पूर्व कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र

'स्टेट्समैन' में श्री सुरथ कुमार सरकार ने एक लेख छपाया था, जिसमें बताया गया था कि विंध्याचल के किसी मठ में रहने वाले नाथ योगियों के पास 'नाथ नामावली' नाम की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक है, जिसमें 'ईशानाथ' के नाम से ईसा की समस्त जीवनी, सूली का दंड होने तक की, वर्णित है। इसी प्रकार काश्मीर और अफगानिस्तान की सीमा पर एक 'ईशा-तालाब' नाम का तीर्थ स्थान है, जहाँ अब भी प्रति वर्ष एक मेला लगता है और यात्री महात्मा ईसा की स्मृति में दान-पुण्य करते हैं। हिंदी में भी 'भारतीय शिष्य ईसा' नाम की पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है, जिसमें डॉ० नोटोविच की पुस्तक का अनुवाद तथा अन्य बातें दी गई हैं।

ईसा की आध्यात्मिक साधना के संबंध में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे हमारा आशय यही है कि इससे पाठक ईसा के उद्देश्य की महानता का कुछ अनुमान कर सकें। हमको तो उपरोक्त घटनाओं से यही प्रतीत होता है कि ईसा के जीवन का लक्ष्य सच्चे ज्ञान और धर्म का अन्वेषण करना ही था और अपने देश-काल के अनुसार वे इसी ज्ञान का जनता में प्रचार करते थे। उन्होंने जान लिया था कि उनकी भौतिकता प्रधान जाति में जब तक आध्यात्मिक भावों का समावेश नहीं किया जायेगा, तब तक वह उच्च जीवन को प्राप्त नहीं कर सकती। यद्यपि वे स्वयं जन्म से ही आध्यात्मिक शक्ति के भंडार थे तो भी उन्होंने उसको नियमित और विधिवत् रूप देने के लिए योग्य गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की थी। यद्यपि ईसा की भारत यात्रा की बात पर अधिकांश विद्वान् अब भी विश्वास करने को तैयार नहीं तो भी यदि उन्होंने पूर्वी देशों का भ्रमण करके अध्यात्म-विद्या का अनुभव प्राप्त किया हो, तो इसमें न तो कुछ असंभव है और न ईसाइयों की निगाह में कोई हीनता की बात है। भगवान् कृष्ण पूर्ण अवतार और शक्ति के भंडार होते हुए भी वंश की प्रथानुसार बहुत कम प्रसिद्ध 'संदीपन ऋषि' के शिष्य बने थे। ऐसी दशा में ईसा ने यदि सत्य की खोज के लिए बौद्ध साधुओं से, जो उस समय समस्त एशिया में फैले हुए थे, ज्ञान-चर्चा की हो और

भारतीय योग-विधि से साधना की हो तो यह उनके महान् आत्मा होने का ही प्रमाण हो सकता है।

दीनबंधु ईसा—

पर हम महात्मा ईसा के जिस गुण को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं और उनको वास्तविक रूप से एक महान् दिव्य-आत्मा मानते हैं, वह है उनका दीन-हीन, गरीब लोगों के प्रति प्रेम और हार्दिक सहानुभूति। वैभवशालियों और शक्तिसंपन्न लोगों से तो सभी मेल-जोल रखते हैं। हमारे यहाँ के अधिकांश साधु-संन्यासी और 'महायोगी' कहलाने वाले भी आजकल अधिकतर सेठों और राजाओं के संपर्क में ही रहते हैं। पर महात्मा ईसा ने आदि से अंत तक अपना जीवन अन्याय-पीड़ित और कष्ट सहन करने वाली अति सामान्य जनता के लिए ही अर्पित किया। यद्यपि 'बाइबिल' में इस बात को बहुत स्पष्ट नहीं किया गया है, पर उसकी विभिन्न घटनाओं का विश्लेषण करने से यही सिद्ध होता है कि ईसा अपने समय के एक समाजवादी आदर्श का प्रचार करने वाले 'महान् नेता' थे और उनका विरोध करने वाले तथा प्राणदंड दिलाने वाले उस समय के 'पूँजीपति' थे। यद्यपि यह 'धर्म-प्रधान' युग था, इसलिए प्रचार का ढंग और उपदेशों की शैली आजकल से भिन्न प्रकार की थी तो भी जब हम ईसा द्वारा धनवानों के विरुद्ध प्रकट किए गए तीव्र उद्‌गारों को पढ़ते हैं तथा उनके अन्य अनुयायियों को भी संपत्ति के स्वामियों पर अभिशापों की वर्षा करते देखते हैं, तो हमको विश्वास हो जाता है कि ईसा का आंदोलन और प्रचार कार्य वास्तव में धनवानों के अन्याय से गरीबों को बचाने और उन्हें स्वतंत्र, स्वावलंबी बनने की प्रेरणा देने के लिए ही था।

ईसा ने अपने अनुयायियों को जो शिक्षा दी थी, उसका सारांश यही था कि संसार में सच्ची सुख-शांति प्राप्त करने का मार्ग, परिश्रम करके अपनी 'रोटी' कमाना और किसी का सत्त्व अपहरण न करना ही है। राजनीतिक विग्रह, अन्य देशों पर आक्रमण, दूसरे लोगों को दास बनाकर उनका शोषण करना आदि कार्यों से 'ईश्वरीय-राज्य' की स्थापना नहीं की जा सकती। यदि हम सैन्य बल से अनेक देशों पर अधिकार कर लें और उनकी संपत्ति लूटकर स्वयं धनवान् और

वैभवशाली बन जाएँ तो इससे समस्त समाज का किसी प्रकार भला नहीं हो सकता। इसी प्रकार मंदिर में पूजा-पाठ करना, धर्म-सभा में कथा सुनना, शास्त्र-विधि से तरह-तरह के कर्मकांड करना आदि ईश्वरीय राज्य के चिह्न नहीं हैं। इसके विपरीत ईश्वरीय-राज्य के चिह्न तो यही हैं—मनुष्य मात्र के प्रति अनंत प्रेम के आधार पर जीवन का पुनर्निर्माण, निर्बलों और भूले-भटकों के प्रति दया, समस्त मनुष्यों के प्रति अनंत सहानुभूति, समाज में से समस्त भेद-भावों का निराकरण और सब लोगों के लिए अनिवार्य रूप से परिश्रम करने का नियम।

ईसा का यह उपदेश स्पष्टतः रोमन विजेताओं, यहूदी सेंड्यूसीज और फरीसीज (पूँजीपति) और धर्म-पुरोहित आदि के विरुद्ध था। इस कारण जैसे ही उन्होंने जनता को इन उपदेशों से प्रभावित होते देखा, ईसा को अपने मार्ग से हटाने का निश्चय कर लिया और धार्मिक मतभेद के नाम पर दो-चार झूठे-सच्चे बहाने बनाकर उन्हें प्राणदंड दे दिया।

ईसा ने अपने जीवन-काल में सदैव धनवानों को धर्म की दृष्टि से गिरा हुआ बतलाया। एक बार कोई धनवान् व्यक्ति उनके उपदेशों से प्रभावित होकर उनकी शरण आया और अपने को शिष्य बना लेने की प्रार्थना की। ईसा ने कहा—"भाई, तुम्हारा विचार तो उत्तम है, पर तुम में एक बड़ा अभाव है। अभी तुम अपने घर लौट जाओ तथा अपनी समस्त संपत्ति और जायदाद को बेचकर गरीबों को बाँट दो, तब तुम खुशी से मेरे शिष्य बनकर साथ रहना।" उस व्यक्ति में इतना त्याग और साहस न था, इसलिए चुपचाप घर में आकर अपना पुराना जीवन बिताने लगा। इतना ही नहीं, धनवानों के अन्यायों का प्रश्न उठाने पर उन्होंने खुले शब्दों में घोषणा की—

"चाहे सुई के नोंक (छेद) में होकर ऊँट निकल जाए, पर धनवान् व्यक्ति स्वर्ग के द्वार में प्रविष्ट नहीं हो सकता।"

महात्मा ईसा का आशय यही था कि अधिक धन का संग्रह बिना अन्याय, शोषण अथवा बेईमानी के नहीं हो सकता। धनवान् मनुष्य चाहे जैसी बातें करे और उदारता का भाव दर्शाए, पर उसकी

दृष्टि सदैव निजी स्वार्थ पर ही रहती है। धनवान् लोग यही चाहते हैं कि समाज के अधिकांश व्यक्ति अभाव, दुःख, निर्बलता की दशा में ही बने रहें, जिससे वे उनके आज्ञावर्ती बने रहकर उनकी संपत्ति की वृद्धि में सहायक बने रहें। इस प्रकार का आचरण साफ तौर पर ईश्वरीय नियमों के विपरीत और मानवता का अपमान करने वाला है। भगवान् ने जो पंचभूत से संयुक्त इस संसार की रचना की है, वह विशेष रूप से इन धनवानों के लिए नहीं की है। उसने जो खेती के योग्य भूमि, जलाशय, नदियाँ, पहाड़, जंगल आदि उत्पन्न किए हैं, वे किसी एक व्यक्ति या विशेष समुदाय के स्वामित्व के लिए नहीं, वरन् सार्वजनिक उपयोग की दृष्टि से ही बनाए हैं। यदि कोई आदमी शक्ति या चालबाजी से उन पर अपना अधिकार जमाकर दूसरों को उनसे लाभ उठाने से वंचित करता है तो यह निश्चय ही ईश्वरीय सत्ता और नियमों का विरोध करना होगा। ईसा का सबसे बड़ा उपदेश यही था कि, जब तक मनुष्य एक ही परमात्मा ने बनाए हैं, वही एकमात्र उनका पिता है तो एक मनुष्य को दूसरे का दास बनकर रहना, एक व्यक्ति के द्वारा दूसरों का शोषण किस प्रकार धर्मसम्मत हो सकता है ?

ईसाई धर्म में समाजवाद के सिद्धांत

ईसा के आत्म-बलिदान के पश्चात् लोग उसके सिद्धांतों को भूलने लग गए। उसे अपने प्रचार कार्य करने के लिए बहुत कम—केवल तीन वर्ष का समय मिला था और उसके शिष्यों में से भी कोई ऐसा योग्य न था, जो अपने गुरु के कार्यक्रम को बदस्तूर जारी रख सकता। वे लोग स्वयं ही ईसा के उपदेशों के वास्तविक आशय से अपरिचित थे, इस कारण उन्होंने उसे गरीबों के उद्धार के आंदोलन के बजाय एक बाह्य आडंबरयुक्त धर्म का रूप दे दिया। ईसाई धर्म के वर्तमान रूप का निर्माण ईसा के बहुत समय पश्चात् सेंटपॉल ने किया था। यद्यपि वह एक विद्वान् और विमल चरित्र वाला सज्जन व्यक्ति था, पर स्वयं एक फरीसीज (मध्यम श्रेणी का धनवान्) होने के कारण गरीबों और श्रमजीवियों की परिस्थिति और मनोभावों से अनजान था। सेंटपॉल के मतानुसार पार्थिव सफलता या

असफलता का कोई मूल्य न था। आत्मिक-कल्याण ही एकमात्र महत्त्व का विषय था और इसका सबसे सीधा और पक्का रास्ता ईसा में विश्वास रखना था। इस मत के फैलने से गरीबों की आर्थिक स्थिति को सुधारने और उन पर होने वाले अन्यायों को दूर करने का उद्देश्य पीछे पड़ गया और लोग पारलौकिक सुख की अभिलाषा से ही अधिकतर धर्म-कर्म करने लग गए।

फिर भी ईसा की शिक्षा और आदर्श के प्रभाव से कितने ही यहूदी श्रमजीवी अपनी स्वतंत्र समितियाँ बनाकर भाई-चारे का जीवन व्यतीत करते रहे। पर जब ईसाइयों की अधिक वृद्धि हो गई और साथ ही सेंटपाल का प्रचार कार्य जोर पकड़ता गया तो ईसाई धर्म में से समानता का भाव क्षीण होता चला गया। तब उसने दान, भिक्षा तथा उदारतापूर्वक गरीब भाई-बहनों की सहायता का स्वरूप धारण कर लिया। नतीजा यह हुआ कि कुछ ही समय बाद ईसाइयों में भी श्रेणी-भेद उत्पन्न हो गया, उनमें भी अमीर तथा गरीब, मालिक तथा मजदूर दिखलाई पड़ने लगे। इससे पुरानी भ्रातृ-भाव वाली भावना नष्ट हो गई। धार्मिक क्षेत्र में यह विवाद 'श्रद्धा' और 'कर्म' के रूप में प्रकट हुआ। इस कलह में गरीबों का पक्ष का समर्थन करने वाला 'जेम्स' था, जिसने अपने लेखों में ईस और पाल की शिक्षाओं का अंतर दिखाया है—

"यदि कोई व्यक्ति कहता है कि वह श्रद्धा रखता है, पर परिश्रम नहीं करता है तो इससे क्या लाभ ? अमीर लोग केवल श्रद्धा के नाम पर ही धर्मसभा में विशेष सम्मान चाहते हैं और अपने अन्य सहधर्मियों को छोटा समझकर उन पर अनुग्रह दिखलाते हैं, पर सच यह है कि बिना कर्म के श्रद्धा प्राणहीन है। अमीर लोग याद रखें कि भगवान् उन्हीं गरीबों से ही प्रसन्न रहता है, जिनका धनी व्यक्ति अब भी शोषण करते हैं और जिनको अदालतों में घसीटा जाता है।"

कितने ही अन्य पादरी (धर्माचार्य) भी ऐसे होते रहे, जो ईसा का अनुकरण करते हुए निरंतर गरीबी और निर्धनता के जीवन की प्रशंसा करते रहे। इनमें से 'बर्नवास' सबसे पहला था, उसका समय

ईसा की द्वितीय शताब्दी माना जाता है। उसने अपने धार्मिक लेखों में ईसाइयों को आदेश दिया है—

"समस्त वस्तुओं का अपने पड़ोसियों के साथ मिलकर उपभोग करो। तुम इन वस्तुओं को अपनी मत बतलाओ क्योंकि जब तुम अविनाशी वस्तुओं का उपभोग अन्य लोगों के साथ मिलकर करते हो तो इन नाशवान् चीजों को अपनी बतलाना कैसे उचित कहा जा सकता है ?"

जस्टिन ने ईसा के शिष्यों के मंतव्यों की विवेचना करते हुए लिखा है—"हम लोग किसी समय संपत्ति और वैभव के मार्ग को ही सबसे अधिक प्रेम करते थे, पर अब हम सब लोगों के साथ मिलकर जीवन-निर्वाह की सामग्री उत्पन्न करते हैं और जिसे जरूरत होती है उसे दे देते हैं।"

क्लीमेंट ने लिखा है—"हमको यह समझ लेना चाहिए कि उत्तम वस्तुएँ उत्तम व्यक्तियों की ही संपत्ति हैं और ईसा के सभी सच्चे अनुयायी उत्तम व्यक्ति ही हैं। इसलिए उत्तम वस्तुओं के उपभोग का अधिकार उन सभी को है। पर अधिकार का अर्थ क्या है ? सच्चा अधिकारी वह नहीं है, जो उस वस्तु को पास में रखता है, पर जो उसे दूसरों को दे डालता है—वही सच्चा धनी है।"

टरट्यूलियन यद्यपि एक रोमन सैन्य-अधिकारी का पुत्र था, पर ईसा के उपदेशों को पढ़कर रोम के साम्राज्यवाद का कट्टर विरोधी बन गया। वह उसमें किसी तरह भाग लेना पाप समझता था। उसने घोषणा की थी कि—"ईश्वरीय और पार्थिव राजाओं के कानूनों में कभी एकता नहीं हो सकती। इसी प्रकार ईसा का झंडा और शैतान का झंडा कभी एक नहीं हो सकता। हम लोगों में बाह्य मान-सम्मान की समस्त आकांक्षा नष्ट हो चुकी है और हम तुम्हारी राजनीति में भाग लेने की तनिक भी इच्छा नहीं रखते। हम केवल एक ही सर्वव्यापी साम्राज्य को मानते हैं, जिसमें संसार का प्रत्येक देश सम्मिलित है। केवल सत्पुरुष ही एक-दूसरे के बंधु हो सकते हैं। इस प्रकार का भ्रातृ-भाव बाहरी घटनाओं से नष्ट नहीं हो सकता। जिस पारिवारिक संपत्ति के कारण तुम लोगों का भाई का रिश्ता टूट

जाता है, उससे हमारा भ्रातृ-भाव और भी दृढ होता है। हम लोगों का मस्तिष्क और आत्मा एक है और हम अपनी सांसारिक संपत्ति को अपने अन्य भाइयों को देने में संकोच नहीं करते।"

बैसिलस ने अमीरों के रहन-सहन की तीव्र आलोचना करते हुए कहा है—"संपत्ति की शक्ति के सामने सबको परास्त होना पड़ता है और हर एक को उसके अत्याचारों के सामने मस्तक झुका लेना पड़ता है। पर क्या ये संपत्ति वाले चोर और लुटेरे नहीं हैं ? तुम्हारे पास जो रोटी है, वह भूखों की है। तुम जो बेशकीमती चोंगा पहने हो, वह चिथड़ा लपेटने वालों का है। तुम जो जूता पहिने हो, वह नंगे पैर चलने वालों का है। तुमने जो सोना-चाँदी इकट्ठा कर रखा है, वह गरीबों का है। कैसे खेद का विषय है कि हम लोग जिनको विवेक बुद्धि प्राप्त है बुद्धिहीन पशुओं से भी बढ़कर निर्दयी हैं। पशु प्राकृतिक वस्तुओं का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं। भेड़ों का झुंड एक ही खेत में चरता है। घोड़े एक ही मैदान में घूमते और अपना पेट भरते हैं। पर हम सार्वजनिक चीजों को अपनी निजी बना लेते हैं और समाज की संपत्ति को व्यक्तिगत बतलाने लगते हैं।"

एंब्रोस के मतानुसार निजी जायदाद का नियम पापमूलक है और आरंभ में पाप द्वारा ही निजी संपत्ति की सृष्टि हुई थी। उसने कहा है—"प्रकृति ने समस्त वस्तुएँ मनुष्य मात्र के सम्मिलित उपभोग के लिए उत्पन्न की हैं। ईश्वर ने समस्त वस्तुओं की सृष्टि ऐसे ढंग से की है कि सब लोग उनके उपभोग का आनंद प्राप्त कर सकें और भूमि पर सबका समान रूप से अधिकार रह सके। इस प्रकार प्रकृति मनुष्य को सम्मिलित रूप से समानतापूर्वक जीवन निर्वाह की शिक्षा देती है, पर जबर्दस्ती और अन्याय के द्वारा लोग निजी जायदाद का नियम जारी कर देते हैं।"

एंब्रोस का शिष्य ऑगस्टाइन भी, जो कैथलिक संप्रदाय के सबसे बड़े धर्माचार्यों में से एक माना जाता है, सिद्धांत की दृष्टि से समता के सिद्धांत का ही प्रतिपादन करता है। उसने 'धार्मिक भजन' के भाष्य में लिखा है—"प्रिय भाइयों ! तनिक विचार करो कि निजी

संपत्ति के कारण मनुष्य में कितनी शत्रुता, झगड़ा-फसाद, मुकदमेबाजी और युद्ध होते हैं। परस्पर फूट और कलह की वृद्धि होती है और न मालूम कितने तरह-तरह के पाप, अन्याय और हत्याएँ तक होती हैं। इन सबका कारण क्या है ? इनका कारण वह संपत्ति ही है, जो हम सबके पास होती है। इसलिए भाइयों, हमको निजी संपत्ति के अधिकार से और यदि अधिकार न त्याग सकें तो कम से कम उसकी ममता से तो बचा रहना चाहिए। अगर हम केवल आवश्यक वस्तुओं को ही रखने का नियम बना लें तो हमारे पास की कितनी ही चीजें फालतू सिद्ध होंगी। सोचो कि परमात्मा ने तुमको कितना दिया है और उसमें से तुमको कितने की आवश्यकता है ? जो चीजें अनावश्यक जान पड़ें, वे दूसरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हैं। तुम उतनी ही चीज पास में रखो, जिससे परमात्मा प्रसन्न रहे और तुम्हारी तृष्णा की भी पूर्ति हो जाए।''

वास्तव में परिग्रह की अधिकता और ममता अधिकांश पापों की जड़ है और मनुष्य को सांसारिक-बंधनों में अधिकाधिक जकड़ने वाली है। इससे मनुष्य के हृदय में घोर स्वार्थपरता का उदय होता है और उसका दृष्टिकोण अत्यंत सीमित हो जाता है। वह अपने और निजी परिवार के सिवाय और किसी के हित का ध्यान रख ही नहीं सकता। उसमें अपने-पराये का भाव बहुत अधिक बढ़ जाता है। ऐसा व्यक्ति चाहे आरंभ में बेईमान न भी हो तो भी "जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'' के अनुसार समाज की सब चीजों में से अपने लिए अधिक से अधिक हिस्सा चाहता है और इस प्रकार तरह-तरह के उपायों और चालाकी से भी अपने भंडार को बढ़ाने की कोशिश करने लग जाता है। जैसा किसी कवि ने कहा है—'लोभ पाप का मूल है।' परिग्रह को बढ़ाने वाला व्यक्ति अनेक हानिकारक मनोवृत्तियों का शिकार हो जाता है और समाज का उपयोगी सदस्य होने के बजाय, उसे पीछे धकेलने वाला, नीचे गिराने वाला बन जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति को देखकर दूसरे को भी वही धुन सवार होती है और फिर बहुसंख्यक व्यक्ति अपने-अपने लिए अधिक सामग्री इकट्ठा कर रखने की चेष्टा करने लगते हैं। इससे आपाधापी और

ईर्ष्या-द्वेष की वृत्तियों को बढ़ावा मिलता है, परस्पर संघर्ष और हिंसा की भावनाओं का उदय होता है और इस प्रकार समग्र समाज संगठन और शक्तिशाली बनने के बजाय विशृंखलता और पतन के मार्ग पर चल पड़ता है।

इसीलिए सच्चे महापुरुष और संत सदा से लोगों के सामने त्याग और अपरिग्रह का आदर्श रखते आये हैं। चाहे आज के युग में धार्मिक भावनाओं के शिथिल हो जाने से 'साम्यवाद अथवा 'समाजवाद' का आंदोलन केवल आर्थिक—आधार पर चलाया जा रहा है। पर इसमें वह स्थिरता और वास्तविकता नहीं, जो धर्म और आध्यात्मिकता के आधार पर स्थित 'अपरिग्रह' और 'त्याग' के आदर्श में थी। कारण यही है कि आर्थिक स्थिति और संबंध नित्य बदलने वाले हैं, जबकि धार्मिक आदर्श शाश्वत और टिकाऊ होते हैं। कहने वाले कह सकते हैं कि क्या एक कंबल में गुजारा करने वाले ईसा के प्रतिनिधि 'पोप' भी सोने के सिंहासन और रत्न जटित मुकुट रखने वाले नहीं बन गये हैं ? क्या यह सत्य नहीं कि लंगोटी धारण करने वाले सच्चे संन्यासी शंकराचार्य के उत्तराधिकारी सोने की पालकी और घोड़े, हाथियों के जुलूस के सिवाय कभी बाहर नहीं निकलते ? उपरोक्त आक्षेपों की सच्चाई से हमको इनकार नहीं, तो भी इस प्रकार के परिवर्तन में एकाध हजार वर्ष का समय लगा और तब भी अनेक धर्मानुयायियों और साधुओं के सामने त्याग का प्राचीन आदर्श अक्षुण्ण रहा और वे परिस्थिति के अनुसार उसका न्यूनाधिक पालन करते रहे। पर जिस समाज में मानव-संबंधों के बजाय धन को प्रधानता दे दी जायेगी और **'सर्वे गुण कांचनमाश्रयन्ति'** के सिद्धांत को हृदयंगम कर लिया जायेगा, वह तो निश्चय ही स्वार्थपरता और हानिकारक संघर्ष का अखाड़ा बन जायेगा और उसका अंतिम परिणाम हिंसा की निरंतर वृद्धि और नाश के सिवाय और कुछ नहीं निकलेगा।

हम जानते हैं कि मनुष्य प्रकृति जैसी कि वह इस समय तक दिखाई पड़ रही है निम्नगामी है। वह त्याग और अपरिग्रह के सिद्धांत को बड़ी कठिनता से स्वीकार करती है, उसका ठीक-ठीक

पालन करना तो दूर की बात है, पर संग्रह और जमीन-जायदाद पर अधिकार जमाने की बात पर दौड़कर आगे बढ़ती है और उसके लिए प्राणपण से उद्योग करने लगती है। इसलिए महापुरुषों और धर्म-प्रचारकों ने सदा 'त्याग' और 'दान' के उपदेश पर जोर दिया है। वे जानते हैं कि मनुष्यों को धन-संग्रह अथवा भोग के पदार्थों को जमा करने के संबंध में कुछ समझाने या प्रेरणा देने की कोई आवश्यकता नहीं। ये 'गुण' तो उसमें निसर्गजात हैं और जरा-सा दूसरों का उदाहरण देखकर तुरंत ही प्रस्फुटित हो जाते हैं। पर 'त्याग', 'अपरिग्रह', 'दान', 'उदारता' आदि का मार्ग बड़ा कंटकाकीर्ण और संकीर्ण है। उस पर चलने के लिए प्रथम तो कोई तैयार ही नहीं होता और यदि होता भी है, तो पचास तरकीबें निकालकर केवल 'चिह्न पूजा' से ही काम चलाने की चेष्टा करता है। हमारे देश में इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण महावीर स्वामी का प्रचारित जैन-धर्म है। धर्माचार्यों में शायद वे सबसे बड़े त्यागी हुए हैं, जिन्होंने एक बालिश्त वस्त्र की लंगोटी को भी फेंक दिया और अपने अनुयायियों को अधिकाधिक अपरिग्रह का उपदेश दिया। पर नतीजा यह है कि दिखलाने के लिए महावीर स्वामी के उपदेशों की 'चिह्न पूजा' करते हुए भी 'जैन धर्म' सेठों का धर्म बन गया है।

ईसाई धर्म की भी ऐसी ही अवस्था देखने में आती है। यदि हम कहें कि महात्मा ईसा 'सच्चे साम्यवादी' थे, तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है। उन्होंने सब लोगों को मिलकर एक परिवार की तरह रहने और एक चूल्हे पर रोटी खाने की आज्ञा दी और अपने अनुयायियों की 'सहयोग समितियाँ' बनाकर इस प्रथा को कार्य रूप में परिणत करा दिया। ये समितियाँ कई सौ वर्ष तक उनके सिद्धांतानुसार चलती भी रहीं। पर धीरे-धीरे उस धर्म में भी धनवानों, अमीरों, राजाओं का प्रवेश होता गया और जिस धर्म को ईसा ने 'दया' 'क्षमा' और 'सहयोग' के नाम पर स्थापित किया था, उसी के अनुयायी ईसाई कहाने वाले आज 'हिंसा' के सबसे बड़े पुजारी हो रहे हैं और एक के बाद एक घातक अस्त्र तैयार करते हुए आज

समस्त संसार को एक ही घंटे में भस्मीभूत करने की शक्ति को हाथ में लेकर कटने-मरने को प्रस्तुत हैं।

पर इससे ईसा का महत्त्व कम नहीं होता। काँटों का ताज पहिने और 'क्रूस' पर टँगे हुए उसका चित्र तो आज भी मनुष्यों को यही उपदेश दे रहा है कि, यदि 'मनुष्य' नाम को सार्थक करना चाहते हो तो भौतिकता के मोह को यथाशक्ति कम करो और 'ईश्वरीय-राज्य' में प्रवेश करके 'त्याग', 'सेवा' और 'परोपकार' के मार्ग को अपनाओ। इसी में मानव-जीवन का उद्धार और सच्चे सुख तथा शांति की प्राप्ति संभव है। भौतिक पदार्थों और जीवन-निर्वाह की सामग्री भी आवश्यक है, पर उसके लिए अनुचित लोभ और ममता मत रखो। उसका उतना ही भाग लो जितना न्यायानुसार तुम्हारे हिस्से में आता है। अपने साथ दूसरों के हित और कल्याण का भी ध्यान रखो। यही सच्चा धर्म और आध्यात्मिकता का सारांश है। दूसरों को लूटकर अपना घर भरने वाला पूँजीपति और दूसरों की लाश पर अपना साम्राज्य स्थापित करने वाला सम्राट् कभी प्रभु ईसा का अनुयायी नहीं कहा जा सकता। उनके ये शब्द सदा अमर रहेंगे कि—"धन्य हैं वे, जो गरीब, दयालु व शांति-प्रचारक हैं और जो न्याय की खातिर दंड सहते हैं, क्योंकि सब मनुष्य एक ही पिता की संतान हैं।"

हम अपने देशवासियों से वही प्रार्थना करेंगे कि वे धर्म के बाहरी दिखावे को कम करके उसकी इन्हीं मूल-तत्त्वों पर आचरण करने के लिए प्रयत्नशील हों। ये ही सिद्धांत भारतीय ऋषि-महर्षियों ने हजारों वर्ष पहले उच्चारित किए थे और महात्मा ईसा ने उन्हीं से प्रेरणा लेकर उनके प्रचारार्थ अपने प्राणों की आहुति दे दी। सच्चे धर्म का संसार में एक ही रूप है और सच्चे धर्मोपदेशक भी एक-दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते। यदि जैसा हम कहते हैं कि "भारतवर्ष ही 'धर्म' की जन्म भूमि है और यहीं से शिक्षा तथा उपदेश ग्रहण करके संसार के लोग धर्माचरण और शुद्धाचरण करना सीखे हैं।" यह सत्य है और हम इस पर विश्वास करते हैं तो उसका प्रमाण यही हो सकता है कि हम अपने स्वार्थ-भाव को कम करें अपनी शक्ति,

योग्यता और धन का अधिकाधिक उपयोग अपने अन्य भाइयों के हितार्थ करते रहें। वर्तमान युग में पददलित अवस्था को प्राप्त हिंदू-धर्म का फिर से देश-विदेशों में डंका बजा देने वाले और उसकी पताका को अमेरिका के 'सर्व धर्म सम्मेलन' में सबसे उच्च स्थान पर फहरा देने वाले स्वामी विवेकानंद ने भी महापुरुष ईसा की इसी महानता की मुक्त कंठ से सराहना की है—

"स्वार्थशून्यता, निस्पृहता, त्याग"—यही एक आदर्श है, जिसकी ईसा मसीह ने शिक्षा दी है, जिसका दुनिया के पैगंबरों ने प्रचार किया है। त्याग का मर्म केवल यही है कि नैतिकता का उच्चतम आदर्श निस्पृहता तथा निःस्वार्थता को स्वीकार किया जाए। अहंशून्य बनो। पूर्ण निःस्वार्थपरता, पूर्ण अहंशून्यता ही हमारा आदर्श है और इसका दृष्टांत है ईसा का यह वाक्य—"यदि किसी ने तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मार दिया है तो दूसरा गाल भी उसकी ओर कर दो। यदि किसी ने तुम्हारा कोट छीन लिया है तो तुम उसे अपना चोगा भी दे दो।" इस आदर्श को अपने उच्च-धरातल से नीचा न करते हुए हमें उसे प्राप्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। ऐसी अवस्था को प्राप्त कर सकने वाले व्यक्ति के अंतर में स्वयं ईश्वर निवास करते हैं। यह है हमारा आदर्श; यद्यपि इस आदर्शावस्था को हम अभी प्राप्त नहीं कर सकते तो भी हमें, स्खलित पदों से ही क्यों न हो, उस ओर शनैः-शनैः अग्रसर होते रहना चाहिए। आजकल या आज से सहस्रों वर्ष बाद भी हमें उस आदर्श को प्राप्त करना है।

'सत्य' पर किसी का एकाधिपत्य नहीं

पर कठिनाई यही है कि मनुष्य व्यावहारिक जगत् में आने पर इन उच्च आदर्शों और सिद्धांतों को भूल जाता है और 'धर्म' को भी अपने व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय लाभ का साधन बना लेता है। अब से दो-चार सौ वर्ष पहले योरोप के ईसाई देशों ने हथियारों की ताकत के साथ ही 'ईसाइयत' को भी अपना राज्य दूर-दूर तक फैलाने का साधन बनाया था। उन्होंने केवल ईसा के उन उपदेशों की श्रेष्ठता दिखाकर ही लोगों को उसका अनुयायी बनने की प्रेरणा नहीं दी, वरन् शक्ति, भय और धन का लोभ दिखाकर भी उनको

धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया। गोआ आदि स्थानों में तो पुर्तगालियों के घोर अत्याचारों की बात इतिहास के सभी पाठक जानते हैं और अभी तक अनेक ईसाई प्रचारक उस मार्ग का अनुकरण करते रहते हैं। यह कार्य-प्रणाली महापुरुष ईसा के आदर्श के सर्वथा प्रतिकूल है। इसकी विवेचना करते हुए स्वामी विवेकानंद ने लिखा है—

मानवता के सभी आचार्य अहंशून्य होते हैं। कल्पना कीजिए कि नाजरथ के ईसा उपदेश दे रहे हैं और बीच में ही कोई व्यक्ति उठकर पूछने लगता है—"आपका उपदेश बहुत सुंदर है। मेरा विश्वास है कि पूर्णत्व-प्राप्ति का यही एक मार्ग है और मैं उसका अनुसरण करने को तैयार हूँ, किंतु मैं आपकी ईश्वर के एकमात्र उत्पन्न पुत्र के रूप में उपासना नहीं कर सकता।" ईसा मसीह इसका क्या उत्तर देंगे—जरा सोचिए। शायद ईसा उस व्यक्ति से कहते—"अच्छा, भाई, आदर्श का अनुसरण कर अपनी इच्छानुसार उसकी तरफ प्रगति करो। तुम मुझे मेरे उपदेशों के लिए कोई श्रेय दो या न दो, मुझे इसकी चिंता नहीं। मैं कोई दुकानदार या बनिया नहीं हूँ, मैं धर्म का व्यवसाय नहीं करता। मैं केवल सत्य की शिक्षा देता हूँ और सत्य किसी की बपौती, किसी की जायदाद नहीं है। सत्य स्वयं ईश्वर है। तुम अपने मार्ग पर अग्रसर होते जाओ।" पर आज ईसा के अनुयायी उसी प्रश्न पर क्या जबाव देते हैं ? वे कहते हैं—"तुम इन उपदेशों पर, इन उसूलों पर अमल करो या न करो, इससे हमें कोई मतलब नहीं। पर तुम 'उपदेशक' (ईसा) का सम्मान तो करते हो न ? यदि तुम उपदेश का सम्मान करते हो तो अवश्य ही तुम्हारा उद्धार हो जायेगा यदि नहीं, तो तुम्हारी मुक्ति की कोई आशा नहीं।" इस प्रकार उस महापुरुष की समस्त शिक्षाओं को विकृत रूप दे दिया गया।

वास्तव में एक त्यागी और अहंशून्य 'उपदेशक' को लेकर इस प्रकार के झगड़े खड़े करना अपने को और स्वयं उस उपदेशक को भी अपमानित और लज्जित करना है। जो व्यक्ति संसार के समस्त व्यक्तियों को एक भगवान् का ही अंश मानकर सबके साथ

आत्मीय-भावना रखता है, प्रत्येक की सेवा करने को प्रस्तुत है, उसे 'आत्मश्लाघा' अथवा 'नामवरी' का इतना लालची बतलाना कि बिना उसको गुरु बनाए, बिना उसका स्मरण किए किसी का उद्धार हो ही नहीं सकता। अपनी बुद्धि और आध्यात्मिकता को झूठा अथवा निस्सार सिद्ध करना है। ऐसा महापुरुष इस बात की कब परवाह कर सकता है कि दुनिया के लोग उसे याद करते हैं या नहीं ? ऐसा महापुरुष कभी यह नहीं कहेगा कि यदि तुम मेरा नाम लेकर मेरे उपदेशों को स्वीकार करोगे तो तुम्हारा उद्धार होगा, नहीं तो तुम नरक में ही जाओगे। यद्यपि संसार के अन्य धर्मों में भी ऐसी कट्टरता के भाव, 'दुराग्रह' पाये जाते हैं, पर वे प्रायः धर्म के नाम पर अपना पेट-पालन करने वाले और स्वार्थी व्यक्तियों के दिमाग की उपज होते हैं। कोई निष्पक्ष और सत्य-धर्म का अनुयायी तो ऐसी बातें सोच ही नहीं सकता। 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने यही सिद्धांत प्रतिपादित किया है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहिताहि तान्।।

(७—२१, २२)

अर्थात्—"जो मनुष्य जिस-जिस स्वरूप में देव-पूजन करना चाहता है, मैं उस भक्त की उसी देवता के प्रति श्रद्धा को स्थिर रखता हूँ। वह भक्त श्रद्धा से उस देवता का पूजन करता है और उसका वही फल प्राप्त करता है, जिसे मैंने नियत किया है।"

इतना ही नहीं, आगे चलकर इस बात को और भी स्पष्ट किया गया है—

ये ऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।

(गीता ६—२३)

अर्थात्—"जो मनुष्य श्रद्धायुक्त भाव से अन्य देवों के भक्त बनकर उपासना करते हैं, वे भी विधिपूर्वक न हों तो भी (पर्याय से) मेरा ही यजन (पूजन) करते हैं।" (लोकमान्य तिलक कृत गीता रहस्य)।

भगवान् कृष्ण के कथन का आशय यही है कि धर्म के विषय में मनुष्य को उदार होना चाहिए। किसी धर्म या उसके जन्मदाता के प्रति अवज्ञा का भाव प्रदर्शित नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे सभी महापुरुष ईश्वरीय विधान की पूर्ति के लिए ही जगत् में प्रकट होते हैं। यद्यपि अपने देश और काल के अनुसार उनको जिस शैली से काम करना पड़ता है, उसमें बाह्य रूप से अंतर अवश्य होता है और इसी कारण अल्प-बुद्धि के लोग ऐसे विभिन्न धर्म प्रचारकों में मतभेद और विरोध की कल्पना भी कर लेते हैं, पर इसमें न तो सच्चाई है और न किसी प्रकार का लाभ। ऐसा करने से मनुष्य 'दुराग्रही' होकर सत्य-मार्ग से च्युत हो जाता है। यदि वह सत्य-सिद्धांत को समझ लेता तो किसी महान् धर्माचार्य पर संदेह ही नहीं कर सकता था।

पर साथ ही 'गीता' में यह भी आदेश दिया गया है कि सब धर्मों और आचार्यों के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए भी मनुष्य को सदैव इधर-उधर जाते रहने अथवा धर्म-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जब सभी धर्म सच्चे और ईश्वर को प्रसन्न करने वाले हो सकते हैं तो जिस धर्मानुसार आचरण करने का अपने को अभ्यास हो चुका है, उसी का सच्चाई के साथ क्यों न पालन किया जाए ? इस सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभाव नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।

अर्थात्—"चाहे परधर्म का आचरण करना अच्छा जान पड़े तो भी उसकी अपेक्षा अपना धर्म किसी दृष्टि से कम होने पर भी अधिक कल्याणकारी होता है क्योंकि स्वभाव के अनुकूल होने से उसके पालन करने में किसी प्रकार पाप की संभावना नहीं रहती।"

'गीता' का सिद्धांत कितना ऊँचा और सर्वव्यापी है, यह बात इस विवेचन से सहज ही में समझी जा सकती है। किसी धर्म की प्रशंसा इसमें नहीं है कि वह दूसरे धर्मों की निंदा करके उसके अनुयायियों को

अपनी श्रद्धा से विचलित करे, वरन् सच्चा धार्मिक वही है जो प्रत्येक मनुष्य को, वह चाहे जिस स्थान में रहे और चाहे जिस धर्माचार्य के सम्मुख रहे, सदैव सच्चाई, ईमानदारी और मनुष्यता के साथ व्यवहार करने की शिक्षा दे। धर्म संबंधी उपासना पद्धति तथा अन्य कर्मकांड धर्म की जड़ नहीं माने जा सकते। वे तो केवल मनुष्य को धार्मिक-जीवन का अभ्यास कराने और धर्म की सदैव याद कराते रहने के लिए प्रचलित किए गए हैं। धर्म का मूल तत्त्व तो वही है, जिससे मनुष्य को अपना आध्यात्मिक स्वरूप (ईश्वर पुत्र होने) का ध्यान बना रहे और वह भौतिकता में एकदम ग्रस्त न होकर अपनी शक्तियों का उपयोग ईश्वर के अन्य पुत्रों (मनुष्य मात्र) के साथ उपकार, सहायता और प्रेम प्रदान करने में करता रहे। महात्मा ईसा का भी मुख्य सिद्धांत यही था और इसीलिए उन्होंने उपदेश करते हुए सदैव 'ईश्वर के पुत्र' होने की घोषणा की है। यह तो स्पष्ट ही है कि ईश्वर किसी एक व्यक्ति व जाति का पिता नहीं हो सकता। अगर वह जगत्-पिता है तो सभी मनुष्य उसके पुत्र और परस्पर में भाई-भाई हैं। यही सच्ची और व्यावहारिक आध्यात्मिकता है।

अंध-विश्वास और उसके कुफल

महात्मा ईसा ने पश्चिमी दुनिया को जो आध्यात्मिक ज्ञान दिया, मनुष्य को ईश्वर का एक अंश और अविनाशी आत्मा मानने की प्रेरणा दी, वह धर्म और मानव-सभ्यता की सबसे अमूल्य थाती है। यदि योरोप वाले उसे ईमानदारी के साथ सुनते-समझते और तदनुसार मानव-मात्र को आत्म-बंधु मानकर उनकी प्रगति में सहयोग देते तो आज शायद संसार का इतिहास कुछ और ही होता, पर हुआ इससे उलटा। कितने ही स्वार्थी और सत्ता के भूखे धर्माचार्यों ने ईसा के आध्यात्मिक और समतावादी सिद्धांतों पर पर्दा डालकर उनके चमत्कारों और दैवी घटनाओं की कथाओं को खूब बढ़ाया। इससे जनता में अंध-विश्वास का भाव फैल गया और वह उन धर्माचार्यों और उनके शिष्यों के चंगुल में फँसकर फिर पुराने ढर्रे पर ही चलने लग गई। इस प्रकार के परिवर्तन चाहे गिर्जाघरों के बिशपों (महंतों) का

लाभ हो गया हो और 'पोप' की सत्ता तथा वैभव एक सम्राट् के दर्जे पर पहुँच गया हो, पर ईसाई-धर्म को इसके कारण अपार हानि ही सहन करनी पड़ी। इस संबंध में अमेरिका के 'लकाम्तेदनाय' नामक वैज्ञानिक ने जो ईसाई धर्म में आस्था रखने वाले एक प्रसिद्ध लेखक थे—'ह्यूमैन डेस्टिनी' (मनुष्य का भाग्य) नामक पुस्तक में लिखा है—

"अन्य दूसरे धर्मों की भाँति ईसाई मत को भी इससे धक्का लगा है। स्पेन में 'पवित्र कैथलिक नरमेध' का हाहाकार मचा था। यूरोप के अन्य देशों तथा अमेरिका में भी 'जादू-मंत्र' के लिए मुकदमे चलाये जाते थे। मूर्खता और अज्ञानता के कारण यह सब उसी एक ईश्वर के नाम पर, उसी एक पुस्तक (बाइबिल) के नाम पर होता था। आज उस पुस्तक की व्याख्या अन्य प्रकार से की गयी है, फिर भी असहनशीलता और धर्मांधता का अंत नहीं हो पाया है। तनिक मतभेद के कारण हजारों निर्दोषों की जानें चली जाती हैं।"

किसी भी ज्ञानसंपन्न और धर्म का मर्म समझने वाले व्यक्ति को इस प्रकार के अंध-विश्वासों का प्रचलन दुःखदायी ही प्रतीत होगा। ईश्वर और धर्म के विश्वास के नाम पर यदि ऐसे पाशविक कृत्य किए जाएँ तो उनके संबंध में अनास्था के भाव उत्पन्न होने अवश्यंभावी हैं। धर्म का उद्देश्य तो मनुष्य की अंतरात्मा को जाग्रत् करके उसे सब प्रकार के दोष और कल्मषों से मुक्त करना ही हो सकता है। किसी सच्चे धर्म प्रेमी की, धर्म गुरु की, चाहे वह ईसाई हो या अन्य हो, प्रेरणादायक आवाज यही हो सकती है कि—"जीवन, भोजन और संतानोत्पादन ही तेरे मुख्य उद्देश्य नहीं हो सकते। मृत्यु, भूख, दासता, तेरे उच्चतर उद्देश्य के कारण बनने चाहिए। तू श्रेष्ठ मानव बन, यह तेरे अंदर एक नए प्राणी की आवाज है, जिसे पथ प्रदर्शक के रूप में स्वीकार कर, चाहे इसके लिए अपनी कुछ इच्छाओं को भी समाप्त करना पड़े।"

ईसा का आविर्भाव और उसका विकास क्रम

ऊपर हम धार्मिक दृष्टि से इस बात पर विचार कर चुके हैं कि ईसा जैसी दिव्य-आत्माएँ ऐसे युग-परिवर्तन के अवसरों पर ही प्रकट

हुआ करती हैं, जब मानवता विकास क्रम की एक मंजिल से दूसरी मंजिल पर कदम रखती है और आगामी परिस्थितियों की जानकारी न होने के कारण शंकाकुल होने लगती है। उसी समय मानवता का मार्ग प्रदर्शन करने के लिए दैवी आत्माओं का अवतरण हुआ करता है। 'मनुष्य का भाग्य' के लेखक ने यह सिद्ध किया है कि, वैज्ञानिक विकास क्रम के अनुसार भी उस समय भूमध्य सागर के आस-पास के देशों में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि कोई महामानव आकर लोगों का पथ प्रदर्शन करे। ये देश किसी समय संसार में बड़े सभ्य और प्रभावशाली माने जाते थे। वहाँ महान् सभ्यताओं, जैसे—यूनानी और रोमन सभ्यताओं का उत्थान एवं पतन हुआ। लेकिन वे बिल्कुल ही समाप्त नहीं हो गए। उनकी अर्थ-व्यवस्था और सैनिक सत्ता समाप्त हो गयी। पर अनेक उच्च परंपराएँ, जो मानवीय आवश्यकताओं और धार्मिक भावनाओं को अभिव्यक्त करती थीं और जो जन-साधारण में अपनी जड़ जमा चुकी थीं, शेष रह गईं। इस प्रकार वहाँ एक ऐसा क्षेत्र बन चुका था कि उसमें किसी उच्चतर धार्मिक भावनाओं का बीज बोया जाए और मानवता को एक नए युग की ओर अग्रसर किया जाए। उस परिस्थिति में वहाँ किसी ऐसे महामानव की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी और वह ईसा के रूप में ही फलीभूत हुई। इस संबंध में 'मनुष्य के भाग्य' का लेखक कहता है—

"ईसा तुरंत नहीं आ गए। मनुष्यों को सच्चा मार्ग बतलाने के लिए एक ऐसे ही उदाहरण की आवश्यकता थी, जो अंतहीन पूर्णता और बलिदान का एक महान् आदर्श उपस्थित कर सके। ईसा द्वारा प्रस्तुत चिनगारी कुछ काल तक प्रकाश दे सकती थी। अपनी उत्कर्षावस्था में वह संसार को प्रकाश दे सकेगी। प्रारंभ में उसके समर्थकों ने किसी प्रकार ज्योति को जीवित रखा और समय की प्रतीक्षा की। आज दो हजार वर्ष बाद उनके सरल उपदेश तेजी से चमक रहे हैं।"

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम्।।

"जहाँ कहीं किसी असाधारण शक्तिसंपन्न व पवित्र आत्मा को मानवता के उत्थान के लिए यत्नशील देखो तो यह जान लो कि वह मेरे ही तेज से उत्पन्न हुई है, मैं ही उसके माध्यम से कार्य कर रहा हूँ।"

इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि महापुरुष ईसा मानव-सभ्यता की प्रगति के मार्ग में एक प्रमुख प्रकाश स्तंभ थे। उनका जीवन—उदाहरण और कार्य गत दो हजार वर्षों में लाखों-करोड़ों व्यक्तियों को उच्च जीवन का मार्ग-दर्शन करा चुका है और कितने ही भूखंडों की, जो घोर अंधकार में पृथक पड़े थे, उसने काया पलट कर दी है। ईसा के उदाहरण से ही अनुप्राणित होकर आज भी हजारों महापुरुष गिरे हुए लोगों के उद्धार के लिए आत्म-त्याग का उच्चतम आदर्श दिखलाकर मानवता की ओर अग्रसर कर रहे हैं। इसलिए यदि हम यह कहें कि ईसा के एक 'अवतार' के प्रभाव से आज हजारों 'अंशावतार' संसार का भार अपने कंधों पर उठाकर चल रहे हैं तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं। जैसा ऊपर 'गीता' के श्लोक में कहा गया है। जो व्यक्ति प्राणों का समस्त मोह त्यागकर अफ्रीका के भयंकर जंगलों और प्रशांत महासागर के अगम्य टापुओं के नरमांसाहारी लोगों के बीच जाकर उनको मानवता की शिक्षा देते हैं, साथ ही रोग, शोक, अभावों को दूर करने का भी प्रयत्न करते हैं और इसके बदलें में स्वयं वहाँ अस्वस्थ होकर अपना बलिदान कर देते हैं, ऐसे 'देवदूत' का कार्य करने वालों को यदि 'अवतार' कहा जाए तो क्या अनुचित है ? हम तो ऐसे निःस्वार्थी महामानवों के लिए स्वामी विवेकानंद के शब्दों में यही कह सकते हैं—

"विभिन्न देशीय, विभिन्न जातीय, विभिन्न मतावलंबी भूतकाल के उन सब महापुरुषों को हम प्रणाम करते हैं, जिनके उपदेश और चरित्र हमने उत्तराधिकार में पाये हैं। विभिन्न जातियों, देशों व धर्मों में जो देवतुल्य नर-नारीगण इस समय मानवता के कल्याण में संलग्न हैं, उन सबको प्रणाम है। जीवंत ईश्वर रूप, जो महापुरुष भविष्य में हमारी संतान के लिए निस्पृहता से कार्य करने के लिए अवतार धारण करेंगे, उन सबको प्रणाम है।

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा।